Siddhanta's International Journal of Advanced Research in Arts & Humanities
Vol. 3, No. 5, May-June 2026

संस्कृत साहित्य में नारी विमर्श: एक समीक्षात्मक अध्ययन

वीना रानी
सहायक आचार्या, संस्कृत विभाग, गुरु गोरखनाथ जी महाविद्यालय, हिसार(हरियाणा)
Email: veenarani2447@gmail.com

सारांश (Abstract)

प्रस्तुत शोध-पत्र संस्कृत साहित्य में नारी विमर्श की अवधारणा का समीक्षात्मक विश्लेषण प्रस्तुत करता है। वैदिक साहित्य से लेकर महाकाव्यों, शास्त्रीय संस्कृत नाटक-काव्य परंपरा और धर्मशास्त्र साहित्य तक की व्यापक यात्रा करते हुए यह अध्ययन दर्शाता है कि संस्कृत वाङ्मय में नारी की छवि एकरैखिक न होकर बहुआयामी और अंतर्विरोधों से भरी हुई है। वैदिक युग में गार्गी, मैत्रेयी जैसी विदुषी स्त्रियों की बौद्धिक स्वतंत्रता, महाकाव्यों में सीता, द्रौपदी, गांधारी जैसे जटिल स्त्री-चरित्र, कालिदास, भास, भवभूति और शूद्रक के नाटकों में नारी का सूक्ष्म चित्रण, तथा शीलभट्टारिका एवं गंगादेवी जैसी कवयित्रियों का सृजनात्मक योगदान—इन सबका विश्लेषण करते हुए यह पत्र यह स्थापित करने का प्रयास करता है कि संस्कृत साहित्य में स्त्री-प्रतिरोध, स्त्री-बुद्धि और स्त्री-स्वायत्तता के सशक्त स्वर विद्यमान रहे हैं, भले ही कालांतर में पितृसत्तात्मक संरचनाओं ने उन्हें सीमित किया हो। यह अध्ययन आधुनिक नारीवादी सिद्धांतों की कसौटी पर संस्कृत साहित्य के पुनर्मूल्यांकन की आवश्यकता पर बल देता है।

बीज-शब्द (Keywords): *संस्कृत साहित्य, नारी विमर्श, पितृसत्ता, वैदिक स्त्री, महाकाव्य, स्त्री-चरित्र, नारीवाद, कालिदास, धर्मशास्त्र, कवयित्री*

1. भूमिका

संस्कृत साहित्य भारतीय सांस्कृतिक चेतना का सबसे प्राचीन और समृद्ध स्रोत है। वेदों से लेकर महाकाव्यों, पुराणों, स्मृति-ग्रंथों और शास्त्रीय काव्य-नाट्य परंपरा तक फैला यह विशाल वाङ्मय भारतीय समाज में स्त्री की स्थिति, भूमिका और अस्मिता को समझने का एक महत्वपूर्ण साधन है। "नारी विमर्श" शब्द यद्यपि आधुनिक युग की उपज है, तथापि इसकी वैचारिक जड़ें प्राचीन साहित्य में सहज ही खोजी जा सकती हैं।

संस्कृत साहित्य में नारी को कहीं देवी के रूप में पूजनीय बताया गया है तो कहीं उसे पुरुष-प्रधान समाज की अधीनता में रहने वाली सामाजिक इकाई के रूप में चित्रित किया गया है। यही द्वंद्व संस्कृत साहित्य में नारी विमर्श के अध्ययन को जटिल और रोचक बनाता है। इस शोध-पत्र में वैदिक साहित्य से लेकर शास्त्रीय संस्कृत काव्य-नाट्य तक की यात्रा करते हुए यह देखने का प्रयास किया गया है कि संस्कृत साहित्य में नारी की छवि किस प्रकार निर्मित, विकसित और कभी-कभी विकृत हुई है।

2. अध्ययन का उद्देश्य

1. वैदिक साहित्य में स्त्री की स्थिति और उसकी बौद्धिक भूमिका का विश्लेषण करना।
2. महाकाव्यों में चित्रित नारी पात्रों का समीक्षात्मक अध्ययन करना।

3. शास्त्रीय संस्कृत नाटकों-काव्यों में नारी-चरित्र-चित्रण की प्रवृत्तियों को उजागर करना।
4. धर्मशास्त्र-स्मृति साहित्य में स्त्री संबंधी विधानों का विश्लेषण करना।
5. संस्कृत कवयित्रियों के योगदान को रेखांकित करना।
6. आधुनिक नारीवादी दृष्टिकोण से संस्कृत साहित्य का पुनर्मूल्यांकन करना।

3. शोध पद्धति

यह अध्ययन गुणात्मक एवं विश्लेषणात्मक पद्धति पर आधारित है, जिसमें प्राथमिक स्रोत के रूप में वेद, उपनिषद, महाकाव्य, शास्त्रीय काव्य-नाटक तथा धर्मशास्त्रों तथा द्वितीयक स्रोत के रूप में विद्वानों के अध्ययनों का उपयोग किया गया है।

4. वैदिक साहित्य में नारी की स्थिति

वैदिक काल भारतीय इतिहास का वह प्रारंभिक युग है जिसमें स्त्री की सामाजिक, धार्मिक और बौद्धिक स्थिति को समझने के लिए हमें ऋग्वेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद तथा उपनिषद साहित्य की ओर देखना पड़ता है। विद्वानों का सामान्य मत है कि वैदिक युग, विशेषतः पूर्व-वैदिक काल, स्त्री-गरिमा की दृष्टि से भारतीय इतिहास का अपेक्षाकृत उदार युग था, यद्यपि इस उदारता की सीमाएँ भी स्पष्ट रूप से विद्यमान थीं (अल्तेकर, 2000)।

4.1. ब्रह्मवादिनी स्त्रियाँ और वेद-रचना में भागीदारी

ऋग्वेद की परंपरा में लगभग बीस से अधिक ऋचाओं की रचयिता स्त्रियाँ मानी जाती हैं, जिन्हें "ब्रह्मवादिनी" अर्थात ब्रह्म-ज्ञान की उद्घोषिका कहा गया है। घोषा काक्षीवती, जो कुष्ठ रोग से पीड़ित थीं, अश्विनी कुमारों की स्तुति में सूक्तों की रचना करती हैं और अपने स्वास्थ्य-लाभ की कामना व्यक्त करती हैं। अपाला, जो त्वचा-रोग से ग्रस्त थीं, इंद्र की स्तुति करते हुए स्वयं सोम-रस निष्पादित करती हैं—यह प्रसंग दर्शाता है कि स्त्रियाँ यज्ञ-कर्म में प्रत्यक्ष भागीदार थीं। विश्ववारा आत्रेयी अग्नि-सूक्त की रचयिता हैं, तो लोपामुद्रा अपने पति अगस्त्य के साथ दार्शनिक संवाद में सम्मिलित होती हैं, जिसमें वे गृहस्थ-जीवन और तपस्या के संतुलन पर अपना स्वतंत्र मत प्रकट करती हैं (राय, 2005)।

4.2. उपनयन संस्कार और शिक्षा का अधिकार

वैदिक युग में कन्याओं का उपनयन संस्कार होता था, जिसके पश्चात वे गुरुकुल में वेदाध्ययन करती थीं। इस परंपरा से दो प्रकार की स्त्री-विद्वानों का उल्लेख मिलता है—"ब्रह्मवादिनी", जो आजीवन अध्ययन में रत रहती थीं, और "सद्योवधू", जो विवाह-पूर्व तक शिक्षा प्राप्त करती थीं। हरीत धर्मसूत्र में इन दोनों श्रेणियों का स्पष्ट उल्लेख मिलता है, जो प्रमाणित करता है कि स्त्री-शिक्षा वैदिक समाज की एक स्थापित संस्था थी (अल्तेकर, 2000)।

4.3. उपनिषद साहित्य में स्त्री-दार्शनिकता के उदाहरण

बृहदारण्यक उपनिषद में गार्गी वाचक्नवी का प्रसंग वैदिक स्त्री-बुद्धि का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है। राजा जनक की विद्वत्-सभा में गार्गी, महर्षि याज्ञवल्क्य से ब्रह्म की अंतिम सत्ता संबंधी प्रश्नों की एक श्रृंखला पूछती हैं—"जो कुछ इस पृथ्वी के ऊपर और आकाश के नीचे है, वह किसमें ओत-प्रोत है?" जैसे गूढ़ प्रश्नों से याज्ञवल्क्य को भी असहज कर देती हैं। यह संवाद इस बात का प्रमाण है कि सार्वजनिक बौद्धिक मंच पर स्त्री को पुरुष के समकक्ष स्थान प्राप्त था (राय, 2005)।

इसी उपनिषद में मैत्रेयी का प्रसंग भी उल्लेखनीय है। जब याज्ञवल्क्य संन्यास ग्रहण करने से पूर्व अपनी संपत्ति दोनों पत्नियों—मैत्रेयी और कात्यायनी—में बाँटना चाहते हैं, तब मैत्रेयी भौतिक संपत्ति के स्थान पर आत्म-ज्ञान की माँग करती हैं और प्रश्न

करती हैं कि "येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्याम्" अर्थात जिससे मैं अमर न हो सकूँ, उस संपत्ति का मैं क्या करूँगी। यह प्रसंग स्त्री की आध्यात्मिक जिज्ञासा और भौतिकता से परे चिंतन-क्षमता को उजागर करता है।

4.4. यज्ञ-कर्म में स्त्री की भूमिका

वैदिक यज्ञ-व्यवस्था में पत्नी को "सहधर्मिणी" कहा जाता था, अर्थात यज्ञ पति-पत्नी दोनों के संयुक्त कर्म से ही संपन्न माना जाता था। पत्नी के बिना यज्ञ अपूर्ण माना जाता था, और सोमयाग जैसे बड़े यज्ञों में पत्नी की उपस्थिति अनिवार्य थी। यह व्यवस्था दर्शाती है कि धार्मिक कर्मकांड में स्त्री की भागीदारी को केवल सहायक नहीं, बल्कि अनिवार्य माना जाता था (चक्रवर्ती, 2013)।

4.5. विवाह-व्यवस्था और स्त्री की सहमति

ऋग्वेद के सूर्या-सूक्त में सूर्या सावित्री के विवाह का वर्णन मिलता है, जिसमें विवाह-मंत्रों के माध्यम से पत्नी को गृह-स्वामिनी के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है—"सम्राज्ञी श्वशुरे भव" (तू अपने श्वसुर-गृह में साम्राज्ञी बन)। यह मंत्र स्त्री को अधीनस्थ नहीं, अपितु परिवार की केंद्रीय सत्ता के रूप में स्थापित करता है। इसके अतिरिक्त, इस युग में स्वयंवर प्रथा के संकेत भी मिलते हैं, जो विवाह में स्त्री की सहमति और चयन-स्वतंत्रता को इंगित करते हैं।

4.6. उत्तर-वैदिक काल में स्थिति का ह्रास

तथापि उत्तर-वैदिक काल, विशेषतः ब्राह्मण-ग्रंथों और स्मृति-साहित्य के उदय के साथ, स्त्री की स्थिति में क्रमिक परिवर्तन दिखाई देने लगता है। शतपथ ब्राह्मण में स्त्री को "अनृत" (असत्य के निकट) कहा जाने लगता है, और ऐतरेय ब्राह्मण में कन्या-जन्म को "दुःख का कारण" बताया जाता है। यज्ञों में स्त्री की सक्रिय भूमिका सीमित होने लगती है और वह क्रमशः प्रतीकात्मक उपस्थिति तक सिमट जाती है। विद्वानों का मत है कि यह परिवर्तन कृषि-आधारित स्थायी समाज में संपत्ति के स्वामित्व, वंश-परंपरा की शुद्धता तथा पुत्र के महत्व से जुड़ी सामाजिक-आर्थिक आवश्यकताओं का परिणाम था (चक्रवर्ती, 2013)।

इस प्रकार वैदिक साहित्य में नारी की स्थिति एक द्वंद्वात्मक चरित्र प्रस्तुत करती है। पूर्व-वैदिक काल में घोषा, अपाला, लोपामुद्रा, गार्गी और मैत्रेयी जैसी स्त्रियाँ ज्ञान, यज्ञ और दर्शन के क्षेत्र में पुरुषों के समकक्ष खड़ी दिखाई देती हैं, जबकि उत्तर-वैदिक काल आते-आते स्त्री की स्वतंत्रता क्रमशः संकुचित होने लगती है। यह क्रमिक परिवर्तन ही आगे चलकर स्मृति-साहित्य में स्त्री की अधीनस्थ स्थिति की भूमिका तैयार करता है, जिसका विस्तृत विवेचन आगामी अनुभागों में किया गया है।

5. महाकाव्यों में नारी विमर्श

5.1 रामायण में सीता

सीता को पातिव्रत्य, सहनशीलता और मर्यादा की प्रतिमूर्ति के रूप में चित्रित किया गया है, किंतु अग्नि-परीक्षा और परित्याग के प्रसंग स्त्री-शरीर पर समाज के नियंत्रण को उजागर करते हैं (किशवर, 2008)। सीता का धरती में समाने का चयन कुछ विद्वानों की दृष्टि में स्त्री के आत्मनिर्णय की चरम अभिव्यक्ति है।

5.2 महाभारत में द्रौपदी, गांधारी, कुंती

द्रौपदी तीक्ष्ण बुद्धि और प्रतिरोध की क्षमता से युक्त पात्र हैं। कौरव-सभा में चीरहरण के समय युधिष्ठिर से उनका न्याय-संबंधी प्रश्न भारतीय साहित्य में स्त्री-प्रतिरोध का प्रारंभिक और सशक्त स्वर माना जाता है (राय, 2005)। गांधारी और कुंती के चरित्र त्याग, नैतिक दृढ़ता और आंतरिक संघर्ष के प्रतीक हैं।

6. शास्त्रीय संस्कृत नाटक एवं काव्य में नारी-चित्रण

6.1 कालिदास के साहित्य में नारी

महाकवि कालिदास का नारी-चित्रण अत्यंत सूक्ष्म और संवेदनशील है। "अभिज्ञानशाकुंतलम्" की शकुंतला प्रेम और सहनशीलता की प्रतिमूर्ति होते हुए भी, सभा में अपमानित होने पर तीक्ष्ण प्रतिवाद करती हैं, जो उनकी आंतरिक शक्ति को प्रकट करता है। "कुमारसंभवम्" में पार्वती स्वयं तपस्या के माध्यम से अपना लक्ष्य प्राप्त करती हैं, जो सक्रिय स्त्री-पात्र की छवि प्रस्तुत करता है।

6.2 भास और भवभूति के नाटकों में नारी-वेदना

भास के "स्वप्नवासवदत्तम्" में वासवदत्ता का त्याग स्त्री-बलिदान के आदर्शीकरण को दर्शाता है, जबकि भवभूति के "उत्तररामचरितम्" में परित्यक्ता सीता की वेदना को अत्यंत मार्मिक ढंग से चित्रित कर पितृसत्तात्मक अन्याय की गहन आलोचना प्रस्तुत की गई है (भट्टाचार्जी, 1996)।

6.3 भवभूति के "मालतीमाधवम्" में स्त्री-स्वेच्छा

इस नाटक की नायिका मालती अपने प्रेम-विवाह के लिए पारिवारिक बाध्यता के विरुद्ध सक्रिय संघर्ष करती हैं, जो शास्त्रीय संस्कृत नाटक-परंपरा में स्त्री की वैयक्तिक इच्छा और स्वेच्छा-विवाह के दुर्लभ किंतु महत्वपूर्ण उदाहरण के रूप में उल्लेखनीय है।

6.4 शूद्रक के "मृच्छकटिकम्" में वसंतसेना

गणिका होते हुए भी वसंतसेना उच्च नैतिक चरित्र, बुद्धिमत्ता और स्वतंत्र निर्णय-क्षमता से संपन्न स्त्री के रूप में चित्रित हैं। यह नाटक तत्कालीन समाज में हाशिए पर स्थित स्त्रियों के जीवन और उनकी मानवीय गरिमा को उजागर करता है।

6.5 भर्तृहरि के "शृंगारशतकम्" में नारी-सौंदर्य और द्वंद्व

भर्तृहरि की श्रृंगार-कविता में नारी को एक ओर सौंदर्य और आकर्षण के प्रतीक के रूप में तथा दूसरी ओर वैराग्य-चिंतन में सांसारिक मोह-बंधन के प्रतीक के रूप में प्रस्तुत किया गया है। यह द्वंद्वात्मक चित्रण स्त्री को वस्तु-रूप में देखने की पुरुष-दृष्टि (Male Gaze) की प्रवृत्ति को भी उजागर करता है, जिसकी आलोचना आधुनिक विद्वानों ने की है।

6.6 जयदेव के "गीतगोविन्दम्" में राधा

राधा का चरित्र संस्कृत भक्ति-काव्य में स्त्री-प्रेम, विरह और आत्मसमर्पण की गहनतम अभिव्यक्ति है। राधा यहाँ केवल प्रेमिका नहीं, बल्कि आध्यात्मिक साधना की केंद्रीय शक्ति के रूप में प्रतिष्ठित हैं, जो स्त्री-भाव को दिव्यता के स्तर तक ऊँचा उठाता है।

6.7 पौराणिक काव्य में नारी-शक्ति की अवधारणा

"देवीमाहात्म्यम्" जैसे स्तोत्र-काव्य में दुर्गा-चंडी के रूप में नारी को सृष्टि की सर्वोच्च शक्ति के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। यह चित्रण संस्कृत साहित्य की उस समानांतर परंपरा को दर्शाता है, जिसमें नारी को दुर्बलता नहीं, अपितु शक्ति और सृजन के स्रोत के रूप में देखा गया।

7. संस्कृत की कवयित्रियाँ

विज्जिका, शीलभट्टारिका, गंगादेवी जैसी कवयित्रियों ने संस्कृत काव्य-परंपरा को समृद्ध किया। शीलभट्टारिका की रचनाओं में प्रेम और विरह की मार्मिक अभिव्यक्ति स्त्री के आत्मानुभव पर आधारित है, जो पुरुष-रचित परंपरागत स्त्री-चित्रण से भिन्न है (भट्टाचार्जी, 1996)। गंगादेवी रचित "मधुराविजयम्" प्रमाणित करता है कि मध्यकाल में भी स्त्रियाँ उच्च कोटि की संस्कृत काव्य-रचना में सक्षम थीं।

8. धर्मशास्त्र एवं स्मृति साहित्य में नारी

धर्मशास्त्र और स्मृति साहित्य भारतीय सामाजिक-विधिक व्यवस्था के वे ग्रंथ हैं, जिन्होंने शताब्दियों तक भारतीय समाज में स्त्री की भूमिका, अधिकार और कर्तव्यों को नियमित किया। मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य स्मृति, नारद स्मृति और वशिष्ठ धर्मसूत्र जैसे ग्रंथों में स्त्री-संबंधी विधानों का विस्तृत उल्लेख मिलता है। इन ग्रंथों का अध्ययन दर्शाता है कि स्त्री के प्रति दृष्टिकोण में गहरा अंतर्विरोध विद्यमान है—एक ओर उसे पूजनीय और गृह-लक्ष्मी कहा गया है, तो दूसरी ओर उसकी स्वतंत्रता को अत्यंत सीमित कर दिया गया है (डोनिगर एवं स्मिथ, 1999)।

8.1. मनुस्मृति में नारी-पूजा और नारी-अधीनता का द्वंद्व

मनुस्मृति का सर्वाधिक उद्धृत श्लोक यह घोषणा करता है कि जिस कुल में स्त्रियों की पूजा होती है, वहाँ देवता प्रसन्न होकर निवास करते हैं, और जहाँ उनका अनादर होता है, वहाँ समस्त कर्म निष्फल हो जाते हैं। यह श्लोक स्त्री को परिवार की मंगलकारी शक्ति के रूप में प्रतिष्ठित करता है। परंतु इसी ग्रंथ में यह विधान भी मिलता है कि स्त्री को बाल्यावस्था में पिता के, यौवन में पति के, और वृद्धावस्था में पुत्र के संरक्षण में रहना चाहिए, तथा उसे कभी स्वतंत्र नहीं रहने देना चाहिए। यह द्वंद्व मनुस्मृति की सर्वाधिक आलोचित विशेषता है, जिसने कालांतर में स्त्री की अधीनस्थ सामाजिक स्थिति को शास्त्रीय वैधता प्रदान करने का कार्य किया (डोनिगर एवं स्मिथ, 1999)।

8.2. स्त्री-धन की अवधारणा: सीमित आर्थिक स्वायत्तता

याज्ञवल्क्य स्मृति में "स्त्री-धन" की अवधारणा उल्लेखनीय है। इसके अंतर्गत विवाह के समय प्राप्त आभूषण, वधू-दक्षिणा, तथा माता-पिता या पति द्वारा प्रेम-स्वरूप दी गई संपत्ति को स्त्री की व्यक्तिगत संपत्ति माना जाता था, जिस पर उसका पूर्ण अधिकार होता था और जिसे परिवार के पुरुष सदस्य भी नहीं छीन सकते थे। यह प्रावधान दर्शाता है कि स्मृति-साहित्य में स्त्री-अधिकारों को पूर्णतः नकारा नहीं गया था, अपितु सीमित रूप में स्वीकार किया गया था (राय, 2005)। इसी प्रकार विधवा स्त्री को भी अपने पति की संपत्ति पर भरण-पोषण का अधिकार प्राप्त था, यद्यपि यह अधिकार भी अनेक शर्तों से बँधा हुआ था।

8.3. विवाह-व्यवस्था और आठ प्रकार के विवाह

धर्मशास्त्रों में विवाह के आठ प्रकार बताए गए हैं, जिनमें ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य को श्रेष्ठ तथा गांधर्व, असुर, राक्षस और पैशाच विवाहों को निम्न श्रेणी में रखा गया है। इनमें गांधर्व विवाह विशेष रूप से उल्लेखनीय है, जिसमें स्त्री-पुरुष अपनी परस्पर सहमति से बिना किसी सामाजिक अनुष्ठान के विवाह करते थे—जैसा कि महाभारत में शकुंतला और दुष्यंत के प्रसंग में वर्णित है। यह प्रकार स्त्री की चयन-स्वतंत्रता का प्रतिनिधित्व करता है, यद्यपि इसे शास्त्रों में निम्न श्रेणी का माना गया, जो स्त्री-स्वेच्छा के प्रति समाज के संकुचित दृष्टिकोण को दर्शाता है (चक्रवर्ती, 2013)।

8.4. पतिव्रत-धर्म और सतीत्व की अवधारणा

स्मृति-साहित्य में "पतिव्रता" स्त्री का आदर्श अत्यंत बल देकर प्रस्तुत किया गया है। पति को ही स्त्री का सर्वोच्च देवता और गुरु बताया गया है, तथा पति-सेवा को ही स्त्री के लिए यज्ञ, तप और दान के समान फलदायी माना गया है। इस अवधारणा ने कालांतर में स्त्री के जीवन को पूर्णतः पति-केंद्रित बना दिया। इसी विचारधारा से आगे चलकर सती-प्रथा जैसी कुप्रथाओं को अप्रत्यक्ष वैचारिक बल मिला, यद्यपि प्रारंभिक स्मृति-ग्रंथों में सती होने का स्पष्ट और अनिवार्य विधान नहीं मिलता; यह प्रथा उत्तरकालीन टीकाकारों और सामाजिक प्रचलन से अधिक जुड़ी हुई प्रतीत होती है (अल्तेकर, 2000)।

8.5. विधवा-स्थिति और पुनर्विवाह का प्रश्न

पराशर स्मृति में एक श्लोक ऐसा भी मिलता है, जिसमें पति के मृत, संन्यासी, नपुंसक अथवा पतित हो जाने पर स्त्री को पुनर्विवाह की अनुमति दी गई है—"नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीबे च पतिते पतौ। पंचस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते॥" यह श्लोक प्रमाणित करता है कि समस्त स्मृति-साहित्य विधवा-पुनर्विवाह का विरोधी नहीं था, अपितु कुछ ग्रंथों में इसकी सीमित स्वीकृति भी विद्यमान थी। तथापि उत्तरकालीन समाज में इस उदार प्रावधान की उपेक्षा करते हुए विधवा-पुनर्विवाह-निषेध को ही सामान्य प्रथा बना दिया गया, जिसके दूरगामी नकारात्मक परिणाम हुए (राय, 2005)।

8.6. कन्या-विवाह की आयु और शिक्षा का ह्रास

प्रारंभिक धर्मसूत्रों की तुलना में परवर्ती स्मृति-ग्रंथों में कन्या के विवाह की आयु उत्तरोत्तर घटती गई। जहाँ वैदिक और सूत्र-काल में कन्या का उपनयन और वेदाध्ययन सामान्य प्रथा थी, वहीं परवर्ती स्मृतियों में विवाह को ही कन्या का "उपनयन-संस्कार" मान लिया गया, अर्थात औपचारिक शिक्षा के स्थान पर विवाह को ही स्त्री-जीवन का केंद्र बना दिया गया। यह परिवर्तन स्त्री-शिक्षा की परंपरा के क्रमिक ह्रास को स्पष्ट रूप से दर्शाता है (चक्रवर्ती, 2013)।

8.7. नारद स्मृति में स्त्री के विधिक अधिकार

नारद स्मृति में स्त्री को कुछ परिस्थितियों में साक्षी बनने, वाद-विवाद में भाग लेने तथा संपत्ति-विवादों में पक्षकार बनने का अधिकार भी दिया गया है, जो यह दर्शाता है कि स्मृति-साहित्य सर्वत्र एकरूप नहीं था, बल्कि उसमें कालांतर और ग्रंथकारों के अनुसार पर्याप्त विविधता एवं परिवर्तनशीलता विद्यमान थी।

धर्मशास्त्र और स्मृति साहित्य में नारी की स्थिति का विश्लेषण यह स्पष्ट करता है कि यह साहित्य एकपक्षीय नहीं, अपितु अंतर्विरोधों से भरा हुआ है। एक ओर नारी-पूजा और स्त्री-धन जैसे उदार प्रावधान हैं, तो दूसरी ओर आजीवन पुरुष-अधीनता और पतिव्रत-धर्म जैसे कठोर विधान भी हैं। इस साहित्य को समग्रता में, ऐतिहासिक संदर्भ के साथ तथा आलोचनात्मक दृष्टि से समझना आवश्यक है, ताकि यह स्पष्ट हो सके कि किस प्रकार शास्त्रीय विधानों की उदार संभावनाओं की उपेक्षा करते हुए समाज ने उनके कठोरतम रूप को ही स्थायी प्रथा बना दिया।

9. आधुनिक नारीवादी दृष्टिकोण से पुनर्मूल्यांकन

उमा चक्रवर्ती का तर्क है कि प्राचीन साहित्य में स्त्री को जाति, वर्ग और लिंग के त्रिकोणीय नियंत्रण के अंतर्गत सीमित स्वतंत्रता ही प्राप्त थी (चक्रवर्ती, 2013)। वहीं कुछ विद्वान संस्कृत साहित्य को पूर्णतः स्त्री-विरोधी मानने के बजाय उसमें निहित प्रतिरोध और स्वायत्तता के स्वरों को भी रेखांकित करते हैं (किशवर, 2008)।

10. निष्कर्ष

संस्कृत साहित्य में नारी विमर्श का अध्ययन यह स्पष्ट करता है कि भारतीय साहित्यिक परंपरा में स्त्री की छवि बहुआयामी और परिवर्तनशील रही है। गार्गी, मैत्रेयी, द्रौपदी, सीता, शकुंतला, मालती, वसंतसेना, राधा जैसे पात्र तथा शीलभट्टारिका, गंगादेवी जैसी कवयित्रियाँ प्रमाणित करती हैं कि संस्कृत साहित्य में नारी-शक्ति और नारी-प्रतिरोध के स्वर सदैव विद्यमान रहे हैं। आधुनिक नारीवादी दृष्टिकोण से इस साहित्य का सतत, संतुलित और आलोचनात्मक पुनर्पाठ आज भी आवश्यक एवं प्रासंगिक है।

संदर्भ सूची

- अल्तेकर, अ. स. (2000). *हिंदू सभ्यता में नारी का स्थान.* मोतीलाल बनारसीदास प्रकाशन।
- चक्रवर्ती, उ. (2013). *जाति और लैंगिकता: एक स्त्रीवादी दृष्टिकोण.* स्त्री प्रकाशन।
- डोनिगर, वें., एवं स्मिथ, बी. के. (अनु.). (1999). *मनुस्मृति.* पेंगुइन बुक्स।
- भट्टाचार्जी, सु. (1996). *भारतीय देवकुल: वेदों से पुराणों तक भारतीय पौराणिक अध्ययन.* कैंब्रिज विश्वविद्यालय प्रेस।
- राय, कु. (2005). *प्राचीन भारतीय समाज में स्त्री.* मनोहर प्रकाशन।
- किशवर, म. (2008). *यमुना की यात्रा: नारीवाद और हिंदू संस्कृति.* मनोहर प्रकाशन।